# 9

# आर्हत दर्शन

## प्रस्तावना

दसवीं कक्षा के लिए यह पाठ विरचित है। भारतीय दर्शन में जैन दर्शन का प्रभाव तो आज भी दिखता है। भारतीय दर्शन के परिचय के लिए जैन दर्शन की अत्यन्त आवश्यकता होती है। और भी, जैन दर्शन ने भारतीय दर्शन में कैसे अपनी परिधि स्थापित की। उसका प्रसार कैसे हुआ? उनके आचार व्यवहार के विषय में आलोचना यहाँ की जाती है। जैन सम्प्रदाय में जीव का क्या स्वरूप है? आत्मा के स्वरूप के विषय में क्या कहा गया है? उनके नास्तिकत्व को कैसे लिया जाता है? वे वेद को स्वीकार नहीं करते हैं। परन्तु वे किस ईश्वर को स्वीकार करते हैं अथवा नहीं, ये विषय यहाँ आलोचित हैं। और भी? दशम कक्षा के लिए जैसे कठिन न हो वैसा वाक्य-विन्यास है। अत: विषय की भी वैसी ही रचना की जाती है यथा छात्रों को सुख-बोध हो।

## उद्देश्य-

इस पाठ को पढ़कर आप सक्षम होंगे:

- जैन दर्शन की सम्यक् धारणा जान पाने में;
- जैन धर्म गुरूओं के नाम जान पाने में;
- जैन दर्शन के प्रमा का ज्ञान प्राप्त कर पाने में;
- जैन दर्शन का प्रमाण-ज्ञान जान पाने में;
- जैन दर्शन के मोक्ष-विषय में धारणा जान पाने में;
- जैन दर्शन का भारतीय दर्शन पर प्रभाव कैसा था, यह जान पाने में।

टिप्पणी

- जैन दर्शन का उद्भव कैसे हुआ, यह जानने में समर्थ होंगे;
- जैन दर्शन द्वारा कैसे मुक्ति-लाभ होता है, जानने में समर्थ होंगे;
- जैनों के नास्तिकत्व को जानने में समर्थ होंगे;
- जैनों के वेद खण्डन के प्रकार को जानने में समर्थ होंगे।

## 9.1 भूमिका

जैन दर्शन भारतीय दर्शनों में अन्यतम है। चार्वाक विचारधारा के अनन्तर नास्तिक दर्शनों में जैन दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है। चार्वाक मत के स्थूल तत्वों के चिन्तन की अपेक्षा सूक्ष्म तत्वों के प्रति चिन्तन की प्रवाहिकता जैन दर्शन में दिखती है। जहाँ चार्वाक शरीर को आत्मा स्वीकार करते हैं वहाँ जैन दर्शन द्वारा आत्मा को शरीर से अतिरिक्त अभौतिक तत्व के रूप में स्वीकार किया गया। और वह शरीर परिमाण अथवा मध्यम परिमाण अभिमत है।

वैदिक दर्शन में प्राय: यह प्रतिपादित है कि आत्मा अणुपरिमाण अथवा महत्परिमाण है- 'अणोरणीयान् महतो महीयानिति'। अणुपरिमाण अथवा महत्परिमाण के नित्यता के कारण आत्मा नित्य है, ऐसा वैदिकों के द्वारा माना गया है। उनके मत के अनुसार मध्यम परिमाणत्मक पदार्थ अनित्य हैं। जैन दर्शन में मध्यम परिमाण आत्मा नित्य है। वह भौतिक पदार्थवत् अनित्य है। दार्शनिक विचार के क्रम से इन दोनों दर्शनों का पौर्वापर्य स्पष्ट रूप में दिखता है। ऐतिहासिक साक्ष्य द्वारा यह सिद्ध होता है कि चार्वाक के पश्चात् जैन दर्शन का विकासक्रम होता है। इसकी भी गणना नास्तिक दर्शनों में विहित है, क्योंकि यहाँ वेदों का प्रामाण्य स्वीकृत नहीं है। तथापि इसका लक्ष्य चार्वाक के समान स्थूल पदार्थ का विवेचन नहीं है। त्रिविध दु:खों के द्वारा आत्यन्तिक मुक्ति ही यहाँ लक्ष्यभूत होती है। आस्तिक दर्शनों का भी यही लक्ष्य है। अत: जैन दर्शन आस्तिक धारा को कुछ अंशों में अनुकरण करता है।

## 9.2 आत्मा

आत्मा जैन मत में परिमाणी द्रव्य है, जीव अस्थिकाय स्वरूप होता है, इत्यादि अवधारणाओं के द्वारा सूक्ष्म तत्वों की भी भौतिकता सिद्ध होती है। जैन दर्शन में जीवात्मा का पार्थक्य नहीं होता है। विभिन्न दर्शन में आत्म पद द्वारा जो कहा जाता है यहाँ जैन दर्शन में वही जीव पद द्वारा कहा जाता है। जीवात्मा ही नित्य विभु होता है। आत्मा स्वरूपत: निराकार होती है, तभी शरीर के आकार के द्वारा प्रवेश करके देह के समान परिमाण विशिष्ट होती है। शरीर का आयतन ही आत्मा का आयतन है। वैदिक दर्शनों से विपरीत दर्शन के कारण इसकी नास्तिक संज्ञा होती है। जीवात्मा के सम्बन्ध

टिप्पणी

में जैन सिद्धान्तों का चार्वाक सिद्धान्तों के साथ कोई भी साम्य दिखता है। अतएव चार्वाक के उपरान्त इसकी विद्यमानता के द्वारा अनुकरण में सन्देह नहीं है।

## 9.3 जैन दर्शन का उद्भव

जैन धर्म यद्यपि अनादि और सनातन है, तथापि उसके युग प्रवर्तक ऋषभदेव थे। ऋषभदेव ऐतिहासिक महापुरूष थे उनका इतिवृत्त उपलब्ध है। हिन्दू धर्म के अवतारवादियों की अवधारणा के द्वारा चौबीस अवतारों में षष्ठ अवतार ऋषभदेव थे। तीर्थंकरों में आदिभूत होने के कारण यही आदिनाथ भी कहे जाते हैं। आदिनाथ के अनन्तर जैन दर्शन के तीर्थंकर परम्परा धर्म-दर्शन के विकास के क्षेत्र में उल्लेखनीय है। वह जैसे- आदिनाथ (ऋषभदेव), आजिनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रनाथ, सुविधनाथ, शीतननाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्युनाथ, अहरनाथ, मल्लिनाथ, सुव्रतनाथ, नाभिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर।

जैन दर्शन के युग प्रवर्तक आचार्य तीर्थंकर कहे जाते हैं। जैन दर्शन की तत्वसिन्धु के निमज्जन के लिए मार्गदर्शक तीर्थंकर संज्ञा को प्राप्त करते हैं। यहाँ तीर्थंकर पद का लाक्षणिक प्रयोग होता है। तीर्थंकरों में अन्तिम वर्धमान का ऐतिहासिक परिचय अवश्य उपलब्ध होता है। वर्धमान का जन्म ईस्वी पूर्व 599 वर्ष में बिहार प्रदेश में हुआ। तीस वर्ष का होने पर वर्धमान द्वारा संन्यास को ग्रहण किया गया, कैवल्य के लिए कठोर तप विहित है। स्वलक्ष्यसिद्धि के कारण यह सर्वज्ञ भी जाने जाते है।

जैन धर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय में दार्शनिक चिन्तन पर्याप्त रूप से हुए हैं। पञ्चमहाव्रतों के अतिरिक्त शारीरिक-मानसिक-वाचिक चेष्टाओं में नियन्त्रण की भी आवश्यकता प्रतिपादित है। क्योंकि इसके द्वारा ही मृत्युपर्यन्त कष्ट सहने की क्षमता उत्पन्न होती है। चौदह गुण स्थानों का अनुभव भी दार्शनिक चिन्तन का ही विषय होता है। ये गुण स्थान इस प्रकार से कहे गए हैं-

मिथ्याव्रत, सासादन, मिश्र, अविरत, सम्यक्त्व, देशविरति, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली।

जैन साहित्य ऐतिहासिक चिन्तन द्वारा चार भागों में विभक्त है- आगमकाल, आरम्भयुग, मध्ययुग, और अवान्तरयुग। आगमकाल में श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय का आगम साहित्य उत्पन्न हुआ-

1) आचारंगसूत्र
2) सूत्रकृतान्न
3) स्थानान्नसूत्र
4) समवायन्नसूत्र
5) भगवतीसूत्र
6) ज्ञातधर्मकथा
7) उपासकदशा
8) अन्तकृतदशा

टिप्पणी

9) अनुत्तरोपपादिकदशा
10) प्रश्नव्याकरण
11) विवाङ्सूत्र
12) दृष्टिवाद

## 9.4 आरम्भकाल

जैन दर्शन का आरम्भ दिगम्बर सम्प्रदायाचार्य के उमास्वामी विचारधाराओं द्वारा होता है। उमास्वामी द्वारा तत्वार्थ सूत्र की रचना विहित है। इन तत्वार्थ सूत्रों में समय-समय पर वृत्ति, भाष्य आदि भूषित ग्रन्थ प्राप्त होते रहे। जैन दर्शन के ये सूत्र पाणिनि सूत्रों के समान हैं।

उमास्वामी के अनन्तर दिगम्बर सम्प्रदाय के ही आचार्य कुन्दकुन्दन द्वारा नियमासार-आचारान्तिक -कामसार-समयसार-प्रवचनसार नामक ग्रन्थ विरचित हैं। कुन्दकुन्दनाचार्य की ये रचनाएँ ही जैन दर्शन का विश्वकोश मानी जाती है। आचार्य समन्तभद्र ने भी जैन दर्शन के क्षेत्र में अभिनव चिन्तन प्रस्तुत किया। देवनन्दी द्वारा जैनेन्द्रव्याकरण में आचार्य समन्तभद्र का उल्लेख विहित है। इसकी रचनाओं में आप्त मीमांसा, युक्त्यनुसन्धान, स्वयम्भूस्तव जिनस्तुतिशतक, रत्नकरण्डक श्रावकाचार, जीवसिद्धि, तत्वानुसन्धान, गन्धहस्तिभाष्य आदि प्रमुख रचनाएँ हैं।

## 9.5 मध्यकाल

जैन दर्शन का विकास मध्यकाल के प्रारम्भ में ईस्वी षष्ठ शताब्दी में होता है। नवम शताब्दी पर्यन्त काल मध्यकाल ही निर्धारित है। यह काल जैन साहित्य का स्वर्णयुग है। जैन दर्शन के बहुत से मौलिक ग्रन्थों की रचना इस काल में ही हुई। इस काल खण्ड में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायावतार-सन्मतितर्क -तत्वार्थटीका-प्रभृति ग्रन्थों की रचना की। इन रचनाओं में न्यायावतार ग्रन्थ जैन दर्शन का स्वरूप प्रस्तुत करता है। आठवीं शताब्दी में हरिभद्रसूरि द्वारा भी षड् दर्शन समुच्चय-अनेकान्तवाद-जयपताका आदि ग्रन्थ विरचित हैं। भट्ट अकलक द्वारा तत्वार्थ-सूत्रों में राजवार्तिक ग्रन्थ का प्रणयन किया गया। न्याय विनिश्चय और प्रमाण संग्रह भी अकलक की ही जैन न्याय शास्त्रीय दो रचनाएँ हैं।

## 9.6 अवान्तर काल

दसवीं शताब्दी के बाद अवान्तरकाल का प्रारम्भ स्वीकार किया जाता है। इस काल में देवसूरि प्रमुख आचार्य हुए। देवसूरि द्वारा भी जैन-न्याय क्षेत्र में प्रमाणानयन तत्व आलोकाकार, इस ग्रन्थ की रचना की गई। इसी ग्रन्थ में इन्हीं आचार्य के द्वारा स्वयं स्याद्वादरत्नाकर नामक टीका ग्रन्थ लिखा गया है। बारहवीं शताब्दी में हेमचन्द्र द्वारा काव्य व्याकरण के

क्षेत्र में नूतन साहित्य रचा गया। प्रमाण मीमांसा हेमचन्द्र की सुप्रसिद्ध रचना है। वस्तुतः यह अद्वितीय दार्शनिक रचना है।

तेरहवीं शताब्दी में मल्लिषेणसूरि ने 'स्याद्वादमञ्जरी' की रचना की। जैन दर्शन में यह रचना पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की। यह रचना हेमचन्द्र की 'अन्ययोगण्यवच्छेद' इस द्वात्रिंशिका ग्रन्थ की टीका है। पन्द्रहवीं शताब्दी में गुणरत्न द्वारा हरिभद्र रचित षड्दर्शन समुच्चय को लक्ष्यीकृत करके टीका ग्रन्थ रचा। सत्रहवीं शताब्दी में आचार्य यशोविजय द्वारा संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी भाषाओं में अनेक खण्डन- मण्डनात्मक ग्रन्थों का सृजन विहित है। जैन तर्क भाषा इसकी प्रमुख कृति है। ग्रन्थों की उपादेयता के साथ भाषागत वैशिष्ट्य भी वहाँ स्पष्ट दिखता है।

## 9.7 जैन दर्शन की तत्व मीमांसा

जैन दर्शन के अनुसार निखिल ब्रह्माण्ड के मूल में सात पदार्थ विद्यमान होते हैं। दृश्यमान सम्पूर्ण जगत उनका ही परिणाम है। ये सात पदार्थ जैन दर्शन के ग्रन्थों में इस प्रकार से उल्लिखित हैं- जीव तत्व, अजीव तत्व, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष। अब इनका यथाक्रम विवेचन किया जाएगा।

### 9.7.1 जीव तत्व

जीव तत्व आत्मा की सांसारिक अवस्था रूप है। यह चेतन होता है, अनन्त ज्ञान दर्शन सामर्थ्यों से युक्त होता है। व्यवहार जगत् में पूर्व अर्जित कर्मों के प्रभाव से जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त सामर्थ्य से युक्त नहीं होता है। उस अवस्था में यह जीव औपशमिक, क्षायिक, क्षायौपशमिक, औदयिक, पारिणामिक भावों के साथ होता है। इनके संपर्क से जीव स्वशुद्ध स्वरूप से भिन्न भासित होता है। द्रव्य के समान परिवर्तित होने पर जीव ही पुद्गल रूप में व्यक्त होकर संसार कहलाता है। जीव परिणामी है। उसकी सभी क्रियाएँ पूर्व में किए कर्मों का परिणाम स्वरूप होती है। जब यह चेतन किसी भी कर्म में प्रवृत्त होता है तब उस प्रवृत्ति का कारण भी पूर्वोपार्जित कर्म ही होता है। प्राप्त शरीर के अनुसार स्थूल और कृश (पतला) होता है। कर्मफल का भोक्ता भी जीव ही है। वह ही उर्ध्व कहलाता है। जीव में कर्म द्वारा प्रवेश का कारण अविद्या होती है। क्योंकि अविद्या से उत्पन्न कर्म ही जीवात्मा को सांसारिकता द्वारा आबद्ध करती है। बन्धमुक्ति का उपाय ज्ञान है। सत्कर्मों के परिणामस्वरूप बन्धन अवस्था में ही ज्ञान उत्पन्न होता है ऋत में ज्ञान की मुक्ति नहीं होती, इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान बद्ध जीव के लिए अत्यावश्यक होती है। यह जीव अवयवी भी कहलाता है। अवयव के संघातरूप के कारण यह अस्तिकाय भी है। चैतन्य और अनुभूतियोग जीव के दो प्रमुख गुण हैं। जीव का परिणाम पर्याय भी होता है। और वह चार प्रकार का प्रतिपादित है - 1) दिव्य 2) मानुष 3) नारकीय 4) तीर्थ पर्याय के भी दो प्रकार है- द्रव्यपर्याय

और गुण पर्याय। भिन्न द्रव्यों में भी जो ऐक्य प्रतीत होता है वह द्रव्यपर्याय कहा जाता है। परिणाम के कारण द्रव्य का गुणों में जो परिवर्तन दिखता है वह गुण पर्याय होता है।

## 9.7.2 अजीव तत्व

अजीव धर्म-अधर्म-आकाश-पुद्गल-काल के भेद से पाँच प्रकार का है। इनमें आकाश नित्य अवयव है, अतः वह अनस्तिकाय भी होता है। गतिमान जीव पुद्गल सहकारी कारण और द्रव्य विशेष धर्म कहलाता है। तथा जलचर के लिए जल, इससे विपरीत स्थितिमान् जीव पुद्गल स्थितिकारण और द्रव्य विशेष अधर्म कहलाता है। यथा परिश्रान्त के लिए आश्रय। अस्तिकाय द्रव्यों का आश्रयप्रद द्रव्य आकाश है। यह अनुमानसिद्ध पदार्थ है। क्योंकि बहुदेशव्यापी जीव पुद्गल धर्म अधर्म का विस्तार करके प्रदेशपर्याय आकाश की सिद्धि होती है। आकाश भी दो प्रकार का होता है- लोकाकाश और अलोकाकाश। पुद्गल जड़द्रव्य होता है। ''पूरयन्ति गलन्ति च पुद्गलाः'' इस व्युत्पत्ति द्वारा पुद्गल परिपूर्ण द्रव्य है। पुद्गल अणुरूप और संघातरूप दो प्रकार के होते हैं। इनके अणु निरवयव होते हैं। संघात तो रूप-रस आदि गुण चतुष्येन द्वारा समूह रूप होता है। काल भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, तथापि अनुमान के द्वारा ही काल की सिद्धि होती है। क्योंकि सम्पूर्ण जगत् परिणामशील है। परिणाम के हेतु द्वारा काल सिद्ध होता है। काल के बिना पदार्थों की स्थिति असम्भव है। प्रत्येक परिणाम कालाश्रित है। अतः काल का अनुमान करते हैं। विस्तार के अभाव में काल अस्तिकाय द्रव्य भिन्न दिखता है।

### पाठगत प्रश्न 9.1

1. प्रथम तीर्थंकर कौन हैं?
2. महावीर कौन हैं?
3. जैन दर्शन के मत में कितने प्रमाण हैं?
4. पुद्गल क्या है?
5. द्रव्य का लक्षण क्या है?
6. जैन मत में ज्ञान के कितने प्रकार हैं?
7. अनेकान्तवाद किनका मत है?
8. कितने तीर्थंकर हैं?
9. पञ्चमहाव्रत क्या हैं?
10. द्रव्य के कितने भेद हैं?

## 9.7.3 आस्रव तत्व

योग द्वारा कर्मपुद्गलों का जीव में प्रवेश आस्रव है। आस्रव के सम्पर्क से ही जीव बन्ध में गिरता है। जैन दर्शन में मनोवाक् कर्म क्रिया युक्त स्वीकार किये जाते हैं। ये ही योग संज्ञा द्वारा कहे जाते हैं। क्योंकि कर्मपुद्गल जड़ होते हैं, अतः स्वयं जीव उन कर्मों में प्रविष्ट नहीं हो सकता। अपितु योग के द्वारा कर्मपुद्गलों का जीव में स्वाभाविक रूप से प्रवेश होता है। आस्रव ही बन्ध का कारण है। और वह दो प्रकार का होता है- भाव आस्रव और द्रव्य आस्रव। जब कर्मपुद्गलों का जीव में प्रवेश नहीं होता तब वह भाव आस्रव कहलाता है। जीव में कर्मपुद्गलों का प्रवेश ही द्रव्य आस्रव कहा जाता है। उदाहरणार्थ वस्त्र के आदिकारण के अनन्तर मलिनता प्राप्ति रूपी कार्य में दो क्रियाएँ दिखती है। प्रथम क्रिया आदिकारण है और अपर धूलिकणों द्वारा संसर्गरूप है। मलिनता के दोनों ही हेतु होते है वहाँ जलसिक्ति में भाव आस्रव है, धूलकण संसर्ग में द्रव्य आसव होता है। प्रधानभूत आस्रव सत्रह हैं। जो मनोयोगों, वाग्योगों, और काययोगों के साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियों के चार कषायों के और पञ्चमहाव्रतों के परित्याग से उत्पन्न होते हैं।

## 9.7.4 बन्ध तत्व

जीव में कर्मपुद्गलों के प्रवेश से उत्पन्न बन्धभाव ही बन्ध कहलाता है। बन्ध भी दो रूपों में व्यवहृत होता है। वह भावबन्ध और द्रव्य बन्ध है। बन्ध का कारण आस्रव होता है क्योंकि आस्रव ही जीव के मूलस्वरूप को नष्ट करता है। मिथ्यात्व, अविरति, व्रत आदि नियमों की अनायास उपेक्षा और बन्ध के हेतु हैं।

## 9.7.5 संवर तत्व

कर्म पुद्गलों के जीव में प्रवेश का अविरोध संवर कहलाता है। यह अवरोध वस्तुतः आस्रव का और आस्रव जन्य बन्ध का होता है। इसका क्रियान्वय सभी विकारों से रहित होने पर ही सम्भव होता है। संवर के भी दो भेद है- भावसंवर और द्रव्य संवर। जैन दर्शन में कर्मपुद्गलों के जीव में प्रवेश के 62 उपाय कहे गए हैं। उनमें पाँच बाह्य और अवशिष्ट आभ्यान्तर हैं।

बाह्य उपाय समिति भी कहे जाते हैं। वे हैं- ईर्यासमिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आसन्निक्षेपण समिति, प्रतिस्थापना समिति। जो सम्भव उपाय हैं वे गुप्ति कहलाते हैं। वे हैं मनोगुप्ति और कायगुप्ति। समितियों में सत्क्रिया प्रवृत्त होती हैं किन्तु गुप्तियों में असत्क्रिया निवृत्त होती है। संवर की प्रक्रिया में परीषह का महत्वपूर्ण योगदान है। मुक्ति मार्ग में प्रवृत्ति के लिए कर्म के क्षय के लिए गृह्यमाण सहिष्णुत्व को परीषह कहते हैं। परीषह के बाईस (22) भेद हैं। कर्म के क्षय के लिए पाँच महाव्रतों के द्वारा, दश धर्मों के द्वारा, बारह अनुप्रेक्षाओं के द्वारा, और पाँच चरित्रों के द्वारा संवर का अनुष्ठान

होता है। चरित्र के पाँच भेद हैं। वहाँ इस प्रकार से कहा गया है- सामयिक, छोदोस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात। इनके सभी के अनुपालन से जीवात्मा में कर्मपुद्गलों के प्रवेश का निरोध होता है।

## 9.7.6 निर्जरा तत्व

आत्मा में कर्म पुद्गलों के नूतन प्रवेश का अवरोध, और पूर्व में अवशिष्ट पुद्गलों का विनाश निर्जरा कहलाता है। निर्जरा को अवलम्बित करके कोई साधक आत्मदर्शन कर सकता है। यथार्थ तो यह है पूर्वोक्त 62 उपायों की साधना कठोर श्रम साध्य होती है। वहाँ से भी अधिक श्रम आत्म स्थानों के कर्मपुद्गलों के विनाश कार्य में होता है। साधक की यह अवस्था निदिध्यासन स्वरूप होती है। इसी अवस्था द्वारा साधक आत्यन्तिक दु:खनिवृत्ति को अनुभव करता है। निर्जरा भी जैन दर्शन में दो प्रकार से प्रतिपादित है- भाव निर्जरा और द्रव्यनिर्जरा। आत्म स्थानों के कर्मपुद्गलों के विनाश की भावना भाव निर्जरा होती है। उन कर्मपुद्गलों के विनाश की क्रिया द्रव्यनिर्जरा होती है। कर्मपुद्गलों के विनाश की भावना दशा में कर्मों के उपभोग के अनन्तर कर्मपुद्गल स्वत: ही नष्ट होते हैं। वह दशा सविपाकभावनिर्जरा कही जाती है। और यदि कर्मों के उपभोग से पूर्व ही कर्मपुद्गलों का विनाश होता है, तब साधक की वह दशा अविपाकभावनिर्जरा कहलाती है। यह अविपाकभावनिर्जरा अतीव दुर्लभ मानी जाती है। इसके लिए कठोर तप की आवश्यकता प्रतिपादित है।

## 9.7.7 मोक्ष तत्व

कर्मपुद्गलों से पूर्णतया मुक्त होकर जीवात्मा सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा होता है। जैन दर्शन में आत्मा की यह अवस्था जीवनमुक्ति अथवा मोक्ष को कहते हैं। यह मोक्ष भावमोक्ष ही होता है। पूर्ण रूप में मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान वरणीय-दर्शनावरणीय-मोहनीय-अन्तरायों के, चार घातीयकर्मों के, आयु-नाम-गोत्र-वेदनीय-संज्ञकों के चार अघातीयकर्मों का भी विनाश आवश्यक होता है। इसके अनन्तर ही द्रव्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

मोक्ष की अवस्था में जीव सभी औपशमिक-क्षणौपशमिक-औदर्यिक-भव्यत्व आदि भावों द्वारा मुक्त होता है। वह ऊर्ध्वगतिशील होता है। अतएव ऊर्ध्व ही हो जाता है। किन्तु लोकाकाश से परे जो अलोककाश है वहाँ धर्मास्तिकाय के अभाव में जीव प्रविष्ट नहीं हो सकता है। वह पुन: वहाँ से संसार में भी आने में समर्थ नहीं होता। जैन दर्शन के अनुसार मुक्त जीव परमात्मा में ऐक्यभावं को प्राप्त नहीं करता। अर्थात् परमात्मा में उसका लय नहीं होता है। परिणामस्वरूप मुक्त जीव भी अनन्तकालपर्यन्त सिद्धशिला में ही रहता है। यही मोक्ष माना जाता है।

टिप्पणी

## 9.8 प्रमाण परिचय

जैन दर्शन में ज्ञान को दो प्रकार का स्वीकार किया गया है, निविकल्प और सविकल्प। निर्विकल्प के चार भेद है, चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल। सविकल्प के पाँच भेद होते हैं- मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्याय और केवल। सविकल्प के ज्ञान के पञ्चभेद ही प्रमाण के लिए विषयीभूत स्वीकार किये जाते हैं। प्रमाण तो यथार्थ ज्ञान होता है, जिसको जीव स्वतः किसी भी सहायता के बिना प्राप्त करता है। जैन दर्शन में प्रत्यक्ष के लिए मन अथवा इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वहाँ सर्वदा वस्तुओं के यथार्थज्ञान को ही उत्पन्न करता है। जैन दर्शन में प्रमाण दो प्रकार का निरूपित है। उसमें प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है पारमार्थिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक प्रत्यक्ष वह है जो कर्म प्रभाव से मुक्त हो, स्वतन्त्र रूप से आत्मा को प्रकाशित करे। इसके द्वारा ही जगत् प्रकाशित होता है। जिस ज्ञान के लिए जीव इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और मन पर निर्भर होता है, वह व्यावहारिक प्रत्यक्ष होता है।

साकार ज्ञान के मति-श्रुति-अवधि-मनः पर्याय और केवल भेद से पञ्च प्रकार हैं। इनमें मतिज्ञान चार प्रकार से प्रतिपादित हैं - अवग्रह अर्थात् संयोगसन्निकर्ष, ईहा संयुक्तसमवायरूप, अवाय संयुक्तसमवेतसमवाय रूप और धारणा। आगम अथवा आप्तवचनों द्वारा प्राप्त ज्ञान श्रुतज्ञान होता है। मति और श्रुत ज्ञान भी भेदकत्व जैन दर्शन में निर्दिष्ट है। इस प्रकार मतिज्ञान केवल वर्तमानाश्रित होता है किन्तु श्रुतज्ञान त्रैकालिक होता है। जैन आगमानुसार श्रुतज्ञान मतिज्ञान की अपेक्षा प्रामाणिक है। क्योंकि मतिज्ञान परिणाम पर आश्रित होता है। किन्तु श्रुतज्ञान आप्तवचन और कारणातीत है। घातीय और अघातीय कर्मों से मुक्त जीव जब इन्द्रियों-करणों के बिना ज्ञान प्राप्त करता है, तब वह ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं- केवल ज्ञान और विकलज्ञान। राग द्वेष आदि रहित अर्हतों में विद्यमान केवल ज्ञान होता है। विकाल ज्ञान तो अवधि और मन पर्याय के भेद से दो प्रकार का होता है। ज्ञानवारण विनष्ट होने पर देवताओं और नारकीयों में स्वभाव से उत्पन्न ज्ञान, मनुष्यों में इतरतिर्यग्योनियों में प्रयत्नपूर्वक विधीयमान सम्यक् दर्शन जन्य ज्ञान अवधिज्ञान में होता है। सम्यक् चरित्र द्वारा ज्ञानावरण के नष्ट होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, जन मानसों में सीमित दिखता है, वह मनः पर्याय ज्ञान होता है। यह विशेष तपस्वियों द्वारा ही प्राप्त होता हैं परोक्ष प्रमाण (अनुमान) हेतु द्वारा साध्य के ज्ञान में जो प्रक्रिया होती है वह अनुमान कहलाती है। अनुमान भी दो प्रकार से प्रतिपादित है- स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। बहुत से दृष्टान्तों के द्वारा एक अनिश्चत अवधारणा की पुष्टि स्वार्थानुमान है। यथा अनेक बार धूम को वह्नि युक्त देखकर दर्शक अपने मन में निर्धारित करता है- जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है। यहाँ कारण रूप धूम एवं कार्यरूप वह्नि साहचर्य व्याप्ति कहलाता है। अतः साहचर्य नियम ही व्याप्ति है, यह सिद्धान्त निर्धारित है। कभी कहीं सुदूर पर्वत आदि पर धूम को देखकर पूर्वनिश्चत व्याप्ति के स्मरण से "जहाँ जहाँ धूम, वहाँ वहाँ अग्नि" इस नियम के आधार पर दर्शन पर्वत पर वह्नि-ज्ञान (अग्नि का ज्ञान) करता है। दर्शक

अपने मन में विश्वास करता है कि जहाँ भी धूम होगा वही अग्नि अवश्य होगी। क्योंकि इस धारणा को उसने पहले भी अनेक दृष्ट उदाहरणों द्वारा किया। अतः धूम रहने पर अग्नि के निश्चय में स्वार्थानुमान क्रियान्वित होता है। इस स्वार्थानुमान में जहाँ साध्य की सिद्धि सन्दिग्ध होती है, वह पक्ष होता है, क्योंकि उसमें हेतु रूप धूम स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। अर्थात् पर्वतरूपी पक्ष में दृश्यमान धूम पक्ष धर्म है। क्योंकि वह धूम धूमत्व धर्म से विशिष्ट है। धूमवत्व द्वार विशिष्ट धूम की पर्वतरूप पक्ष में विद्यमानता पक्ष धर्मता होती है। एवं व्याप्ति और पक्ष धर्मता अनुमान के मुख्य अंग हैं। अतः व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्मता का ज्ञान अनुमान माना जाता है।

परार्थानुमान में अनुमान की उक्त विधि अन्य के ज्ञान के लिए योजित है। किन्तु इसमें पाँच अवयव होते हैं- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। यथा ''पर्वत वह्निमान है, धूम के कारण'' इस वाक्य में पर्वत पर अग्नि है, इसके ज्ञापन के लिए प्रतिज्ञा विद्यमान है। 'धूमात् (धूम के कारण)' यह कथन हेतु है क्योंकि धूम के बिना 'पर्वत पर वह्नि है' इसका अनुमान नहीं होता है। ''जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है'', यथा महानस, यह उदाहरण है। ''जैसे महानस (रसाईघर) में वैसे यहाँ पर्वत पर'', यह उपनय है। ''पर्वत पर भी धूम के कारण अग्नि ही है, अन्य नहीं'', यह निगमन है।

आचार्य भद्रबाहु ने कहा कि परार्थानुमान की प्रक्रिया में दस अवयव होते हैं- 1) प्रतिज्ञा 2) प्रतिज्ञाविभक्ति 3) हेतु 4) हेतुविभक्ति 5) विपक्ष 6) विपक्षप्रतिषेध 7) दृष्टान्त 8) आशय 9) आशयाप्रतिषेध 10) निगमन। अनुमान में प्रायः पक्ष, साध्य और हेतु, ये तीन अंग होते हैं। अनुमान द्वारा जिसका ज्ञान होता है, वह साध्य होता है। यथा ''पर्वतो वह्निमान्'' इत्यादि में वह्नि। जिस आश्रय में साध्य की सिद्धि होती है, वह पक्ष होता है, यथा ''पर्वतो वह्निमान्'' इत्यादि उदाहरण में पर्वत। साध्य की सिद्धि के लिए जो साधन होता है, वह हेतु होता है, यथा ''पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्'' इत्यादि उदाहरण में धूमवत्व।

## 9.9 नय ज्ञान अथवा स्याद्वाद (स्यात्वाद)

प्रमाण के अतिरिक्त दृष्टि-भेद से भी तत्व ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव होती है। यह दृष्टि-भेद 'नय' कहलाता है। जैन दर्शन के चिन्तन में एक वस्तु अनेक धर्मों से युक्त होती है। उन अनेक धर्मों में विद्यमान में भी एक धर्म विशेष के ग्रहण से वस्तु निश्चित की जाती है। उसमें वस्तु-निश्चय की प्रक्रिया नय कहलाती है। नय द्वारा वस्तु के एक ही व्यय का ज्ञान हो सकता है किन्तु प्रमाण से वस्तु के अनेक धर्मों का ज्ञान होता है। नय भी दो प्रकार होता है- निश्चय नय और व्यावहारिक नय। निश्चय नय द्वारा वस्तुओं का तात्विक ज्ञान होता है। व्यावहारिक नय द्वारा वस्तुओं का सांसारिक ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त वस्तुओं के विभिन्न रूपों को विभिन्न दृष्टि से जानने के लिए अनेक नय जैन दर्शन में स्वीकृत हैं। जिनमें द्रव्यार्थिक नय और पारमार्थिक नय प्रमुख है। कर्मवाद

टिप्पणी

जैन दार्शनिकों के द्वारा भी कर्म ही बन्धनों के मुख्य कारण रूप में स्वीकार किये गए हैं। कर्म के कारण ही जीव का क्रोध, मान, माया, लोभ आदि चार कषायों द्वारा अनादि और अनन्त सम्पर्क होता है। अतः कर्म ही अविद्या है। यह स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि जीव का कर्मों के उसके सम्पर्क युक्त वस्तुओं से सम्बन्ध रहता है। कर्म सम्बन्धी पुद्गल कर्मपुद्गल होते हैं।

स्वभाववाद और अनेकान्तवाद दो वाद जैन दर्शन में हैं। जैनमतानुसार द्रव्य का होना अथवा स्वभाव परिणामित स्वीकार किया जाता है। अतः उसके उत्पाद-व्यय उत्पन्न होते हैं। तथापि द्रव्य का सत (होना) अथवा मूल ध्रौव्य है। अतः उसका विनाश नहीं होता यथा घट अथवा पट। घट की उत्पत्ति मृत्तिका (मिट्ट) से होती है। और पुनः उसका विनाश होकर ध्वंस रूप बचता है। और वे मृत्तिका ही है। पदार्थ का मौलिक रूप, जैसे घट की मृदा, दोनों अवस्थाओं में होता है। यही ध्रौव्य है। तत्व चिन्तन की दशा में अनेक धर्मों का विचार आवश्यक है। उसी से उस वस्तु के स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। जैन परिणामी नित्यावाद स्वीकार करते हैं। जैनसिद्धान्त के अनुसार सत द्रव्यों में अथवा, व्यय, ध्रौव्य आदि में गुण विद्यमान होते हैं। उत्पाद-विनाश के सदृश अवस्थाओं में भी वस्तु का अस्तित्व सिद्ध होता है। परस्पर विरूद्ध अवस्थाओं में भी विद्यमान यह परिणामी नित्यतावाद अथवा अनेकान्तवाद कहलाता है। जैन मत द्वारा चेतन-अचेतन सभी पदार्थों के असंख्य धर्म हैं। यथा आत्मा में सत्व-व्यापकत्व-चेतनत्व आदि धर्म विद्यमान होते हैं। किन्तु यह धर्म किसी भी अपर वस्तु की अपेक्षा द्वारा होते हैं। किसी भी अन्य की अपेक्षा से नहीं ही होते हैं। एवं किसी की अपेक्षा आत्मा सत् होता है और किसी की अपेक्षा आत्मा असत् है। वस्तुतः वस्तु का स्वरूप न केवल उस वस्तु के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होता है। अपितु अन्य वस्तुओं का भी ज्ञान आवश्यक होता है। जिनकी अपेक्षा मूल वस्तु का स्वरूप जाना जा सकता है। अर्थात् एक वस्तु के अवज्ञान के लिए अन्य वस्तुओं की भी सम्भावना परोक्ष द्वारा होती है। यह सम्भावना जैनदर्शन में 'स्याद्' पद से व्यक्त है।

स्याद्वाद जैन दर्शन में सप्त भंगी न्याय द्वारा प्रदर्शित होता है। वे हैं- 1) स्याद् है। 2) स्याद् नहीं है। 3) स्याद् है और स्याद् नहीं है। 4) स्याद् अवक्तव्य है। 5) स्याद् है और अवक्तव्य है। 6) स्याद्ा नहीं है और अवक्तव्य है। 7) स्याद है और अवक्तव्य नहीं है। यही सप्तभंगीन्याय है।

## 9.10 आर्हत दर्शन में कुछ प्रसिद्ध श्लोक

**''सर्वज्ञो जितरागदिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।**
**यथास्थितार्थवादी च देवोईन्परमेश्वरः॥''**

**अन्वय**- सर्वज्ञः जीतरागदिदोषः त्रैलोक्यपूजितः यथास्थितः अर्थवादी देवः परमेश्वर च अर्हत्।

टिप्पणी

**व्याख्यान**- इस श्लोक में अर्हत के स्वरूप को कहते हैं। जो सर्वज्ञ सभी विशेषण को जानता है। राग आदि दोषों से रहित है। तीनों लोकों में पूज्य है। जैसा देखता है, वैसा कहता है, उसका नाम यथार्थ वक्ता है। और वह ही परमेश्वर भी है। वही अर्हत् पद द्वारा कहा जाता है। अतः जैसा भगवान् का स्वरूप है वैसा ही अर्हत का भी स्वरूप है। राग आदि वासना से उत्पन्न जीव, उसके अतिरिक्त सभी दोषों से रहित आर्हत्। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि जैन ईश्वर को स्वीकार नहीं करते तथापि अर्हत को ईश्वरत् पूजते हैं।

**''यथावस्थिततत्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा।**
**योवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः॥''**

**अन्वय**- मनीषिणः यथावस्थितत्वानां संक्षेपाद् विस्तरेण वा यः अवबोधः (भवति) तं अवबोध सम्यग्ज्ञानं आहुः।

**व्याख्यान**- जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान को स्वीकार किया जाता है। तब सम्यक् ज्ञान क्या है, तो कहते हैं, कि वस्तु की जैसी स्थिति होती है वैसे वस्तुओं तत्वों का ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। वह संक्षेप से अथवा विस्तार से हो। परन्तु वस्तुओं की यथास्थिति है वैसा ही तत्व ज्ञान सम्यक् ज्ञान होता है। और इस सम्यक् ज्ञान के पाँच भेद होते हैं। इस प्रकार से ज्ञान के प्रकारों द्वारा जैनों की वस्तु अवधारणा होती है।

## पाठगत प्रश्न 9.2

साधु उत्तर का चयन करें -

1. स्याद्वाद के कितने प्रकार हैं।

   क) पाँच  ख) सात  ग) अष्ट  घ) छः

2. जैन क्या ईश्वर को स्वीकार करते हैं।

   क) करते हैं  ख) न स्वीकार करते हैं  ग)दोनों

3. जैन दर्शन के मत में जीव के बन्धन का कारण क्या है?

   क) कर्म  ख) दुःख  ग) अज्ञान  घ) माया

4. जैनमत में ज्ञान का क्या स्वरूप हैं?

   क) स्वप्रकाश  ख) अप्रकाश  ग) अनित्य  घ) ये तीनों नहीं

5. गुप्ति कितने प्रकार की है?

   क) दो  ख) तीन  ग) पाँच  घ) चार

6. जैन मत में काल का स्वरूप क्या है?
7. जैन दर्शन के अनुसार धर्म-अधर्म का स्वरूप क्या है?
8. अनेकान्तवाद का वर्णन कीजिए।
9. जैन सम्प्रदाय का वर्णन कीजिए।

## पाठसार

इस पाठ में जैन दर्शन के विषय में आलोचना की गई है। जैनों का उत्स है। उनके धर्म प्रचारकों के नाम हैं। जैनियों का आचार-अनुष्ठान भी उक्त है। जैनों के प्रमा-प्रमाण के विषय में आलोचना है। इस पाठ में स्याद्वाद का वर्णन भी है। जैनों के जीव के विषय में आलोचना की गई है। जैन दर्शन में मोक्ष क्या है अथवा कैसे मोक्ष होता है उस विषय में आलोचना है। जैनों के अनेकात्मवाद का वर्णन दिखता है। भारतीय दर्शनों में जैनों के स्थान की आलोचना की गई है। और इस पाठ में उसका नास्तिक दर्शनत्व कैसा है, यह प्रदर्शित है।

## पाठान्त प्रश्न

1. जैन दर्शन का अवदान लिखिए।
2. जैन दर्शन के प्रमाण के विषय में आलोचना कीजिए।
3. जैन दर्शन में मोक्ष का स्वरूप लिखिए।
4. पुद्गल, निर्जीव तत्व के विषय में टिप्पणी लिखिए।
5. जैनों के साधन के विषय में आलोचना कीजिए।
6. जैन दर्शन का नास्तिकत्व विचार।
7. जैन प्रमेय के विषय में लघुनिबन्ध लिखिए।
8. अनेकान्तवाद का अङ्गीकार कैसा है, वह प्रतिपादित कीजिए।

## पाठगत प्रश्नों के उत्तर

**उत्तर-9.1**

1. ऋषभदेव

2. जैनतीर्थंकर
3. दो प्रमाण
4. अचेतन जड़ द्रव्य ही पुद्गल कहा जाता है। ''पूरयन्ति गलन्ति च' इस व्युत्पत्ति द्वारा पुद्गल कहलाता है।
5. गुण पर्याय के समान द्रव्य
6. पाँच प्रकार के हैं
7. जैनों का है।
8. चौबीस तीर्थंकर थे।
9. अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-और अपरिग्रह पाँच महाव्रत हैं।
10. द्रव्य के दो प्रकार हैं। अस्तिकाय और अनस्तिकाय।

## उत्तर-9.2

1. सात प्रकार
2. ईश्वर को स्वीकार नहीं करते हैं।
3. कर्म
4. स्वप्रकाश
5. दो
6. जैन मत में काल आकाश का ही अनुमेय है। काल अनस्तिकाय द्रव्य है। काल देश में अथवा एक स्थान पर नहीं रहता है। काल अविभज्य भी है तथा व्यवहारिक प्रयोजन में खण्ड भी किया जाता है। अतीत आदि व्यवहार काल के सहयोग से ही होता है। न्याय-वैशेषिक मत में काल छठा द्रव्य है। काल नित्य, एक, विभु होता है। काल सभी का आधारभूत तथा सभी कार्यों का निमित्त कारण है।
7. हमारे द्वारा जैसे सामान्यतः धर्म-अधर्म अर्थात् पाप-पुण्य जाना जाता है। परन्तु जैन दर्शन में धर्म अर्थात् गति कहा जाता है। अधर्म स्थिति का है। गति-स्थिति के नियामक रूप में धर्म-अधर्म अनुमिति है। वे नित्य, अरूप और निष्क्रिय है। कुछ वेदविहित कर्म अनुष्ठान द्वारा आत्मा में जो गुण उत्पन्न होता है, वह गुण धर्म है। पक्षान्तर में वेदोक्त निषिद्ध कर्म द्वारा आत्मा में जो गुण उत्पन्न होता है वह अधर्म है। सुख से जैसा धर्म का अनुमान किया जाता है तथा दुःख से अधर्म का अनुमान किया जाता है।
8. जैन अनेकान्तवाद को स्वीकार करते हैं। अनेकान्तवाद मत में वस्तु के यथार्थतत्व

टिप्पणी

का एकान्तभाव से नहीं जाना जा सकता है। कारण ही जीव का ज्ञान प्रतिष्ठित होता है। मृन्मयघट यथा मृत्तिका रूप में सत्य है वैसे ही मृत्तिका के विकार रूप में भी सत्य होता है। अपने-अपने सम्प्रदाय के दार्शनिक विशेष दृष्टिभेद से अनेक व्याख्यान करते हैं। परन्तु उनके व्याख्या के अनुसार यह तत्व ही एकान्तभाव से सत्य है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक मतवाद की आंशिक सत्यता होती है, सम्पूर्ण सत्यता नहीं होती है। केवल अपना सम्प्रदाय ही सत्य है, अपर सम्प्रदाय का तत्व मिथ्या है, यह एकान्तभाव द्वारा कहा जाता है। परन्तु वस्तु मात्र अनन्त धर्मविशिष्ट है। अतः यह वस्तु सत् है अथवा असत् यह निर्दिष्ट रूप से कहा नहीं जा सकता। अतः अनेकान्तवाद स्वीकार करने योग्य है।

19. जैन दर्शन में चौबीस तीर्थंकर हैं। प्रथम ऋषभदेव अन्तिम महावीर। श्वेताम्बर और दिगम्बर जैनों के दो सम्प्रदाय है। श्वेताम्बर सम्प्रदायिक उदारपन्थी होते है। पक्षान्तर में दिगम्बर सम्प्रदायिक चरमपन्थी होते हैं। यद्यपि मौलिक विषय में उनका पार्थक्य नहीं दिखता तथापि आचरण भेद से पार्थक्य दिखता है।

**।।नवम् पाठ समाप्त।।**